द्वितीय अध्याय

विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥ १ ॥

(प्रधानस्य) पूर्व अध्याय के अन्तिम सूत्र से 'कर्तृत्वम्' की अनुवृत्ति है। प्रधान=प्रकृति का कर्तृत्व (विमुक्तमोक्षार्थम्) विमुक्त शब्द यहां विरक्त के अर्थ में है, अथवा सूत्र का पाठ ही विरक्त हो। उत्तर सूत्र में विरक्त शब्द को लेकर विचारप्रसङ्ग होने से तथा विरक्त व्यवहार प्रदर्शन से "**विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत्**" (सांख्य० ४। २३) एवं विरक्त के मोक्षार्थ प्रकृति का कर्तृत्व है, क्योंकि प्रकृति से=प्रकृति की सृष्टि से विरक्त का ही मोक्ष होता है। विवेकज्ञान से प्रकृति के दोषों का निरीक्षण करके विरक्त मोक्ष में प्रवृत्त होता है (वा) समुच्चयार्थ में। और (स्वार्थम्) अविरक्त को अपने प्रति आकर्षित करके भोग देने के लिये कर्तृत्व है। प्रकृति के परार्थ=पुरुष के प्रयोजनार्थ होने से उस से पुरुष का मोक्ष और भोग सिद्ध होते हैं। कहा भी है "**ततः प्रकृतेः संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य**" (सांख्य० १। ६५, ६६)=प्रकृति संहत है तीन गुणों से वह परार्थ=पुरुषार्थ है। पुरुष के दो अर्थ (=लक्ष्य) हैं— भोग और अपवर्ग। उन भोग और अपवर्ग=मोक्ष के साधने के लिये प्रकृति है— "**प्रकाश-क्रियास्थितिशीलं.....भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**" (योग० २। १८) ॥ १ ॥

पूर्वपक्ष से कहता है—

विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥ २ ॥

(विरक्तस्य) विरक्त जन के (तत्सिद्धेः) मोक्षसिद्धि स्वतः होने से, जो ही विरक्त हो, मोक्ष तो उसका सिद्ध होगा। कैसे कहा जाता है कि विरक्त के मोक्षार्थ प्रकृति का कर्तृत्व है? हो अविरक्त के भोगार्थ प्रकृति का कर्तृत्व, न कि विरक्त के मोक्षार्थ है? ॥ २ ॥

समाधान करता है—

न श्रवणमात्रात् तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात् ॥ ३ ॥

(श्रवणमात्रात्) प्रकृतिदोषों के श्रवणमात्र से ही (तत्सिद्धिः—न) विरक्त की मोक्षसिद्धि नहीं होती। क्योंकि (अनादिवासनायाः) भोगविषयक

अनादिवासना के (बलवत्त्वात्) बलवान् होने से। जब तक भोगदोष साक्षात् अनुभव न किए जावें अथवा मनन और निदिध्यासन न किये गये हों, तब तक अनादि वासना की निवृत्ति नहीं होती। बिना वासना-निवृत्ति के कैसे मोक्ष हो ? वह यह कार्य प्रकृति का विवेक से अवगाहन करके ही हो सकता है, अतः विरक्त के मोक्षार्थ भी प्रकृति का कर्तृत्व है ॥ ३ ॥

यह प्रकृति का कृत्य--

बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ॥ ४ ॥

(बहुभृत्यवत्—वा प्रत्येकम्) वा समुच्चयार्थ है। और यह प्रकृति का कर्तृत्व बहुत भृत्यों=भरणीयों, सेवकों की भांति प्रत्येक विरक्त-अविरक्त से सम्बन्ध रखता है। जैसे कोई बहुत भृत्यवाला स्वामी किन्हीं सेवा में प्रवृत्त भृत्यों को वेतन से पालता है और किन्हीं सेवाकाल समाप्त जिनका हो गया, उन सेवाकार्य से विरक्त कृतार्थजनों को पुरस्कार से सत्कृत करता है। सेवाकार्य से विरक्त और अविरक्त जनों के प्रति पुरस्कार और वेतन के प्रदान द्वारा उसका सत्करण-भरण कर्तृत्व होता है, उसी प्रकार विरक्त-अविरक्त के प्रति मोक्ष और भोग के सम्बन्ध में प्रकृति का कर्तृत्व है। अतः विरक्त के मोक्षार्थ भी प्रकृति का कर्तृत्व अयुक्त नहीं ॥ ४ ॥

इस विषय में पूर्वपक्षरूप से कहा जाता है—

प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ॥ ५ ॥

(प्रकृतिवास्तवे च) विरक्त के मोक्षार्थ और अविरक्त के भोगार्थ प्रकृति का कर्तृत्व है। ऐसे तो प्रकृति का कर्तृत्व वास्तविक हो जाने पर (पुरुषस्य—अध्याससिद्धिः) प्रकृत पुरुषविशेष ईश्वर के कर्तृत्व की अध्याससिद्धि हो जावेगी अर्थात् ईश्वर का कर्तृत्व अध्यासमात्र=कल्पनामात्र आरोपमात्र हो जावेगा ॥ ५ ॥

समाधान करता है—

कार्यतस्तत्सिद्धिः * ॥ ६ ॥

(कार्यतः) कार्यनिर्माण से=वह ईश्वर प्रकृति को जगद्रूप कार्य में परिणत कर देता है, इससे (तत्सिद्धिः) उस पुरुषविशेष ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि होती है। कहा भी है—"**स हि सर्ववित् सर्वकर्ता**" (सांख्य० ३। ५६) ॥ ६ ॥

---

* 'तत्सिद्धिः' पाठ अनिरुद्ध का, 'तत्सिद्धेः' विज्ञानभिक्षु का है।

चेतनोद्देशात्—नियमः कण्टकमोक्षवत्॥ ७॥

(चेतनोद्देशात्—नियमः) विरक्त के मोक्षार्थ और अविरक्त के भोगार्थ प्रकृति के कर्तृत्व में चेतन के लक्ष्य से=पुरुषविशेष ईश्वर की प्रेरणा से नियम है, वहां भी प्रकृति का कर्तृत्व स्वतन्त्र नहीं है। उसके जड़ और परवश होने से। परवशा प्रकृति सांख्य में कही है—"**अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्**" (सांख्य० ३।५५)=जिसके वश में प्रकृति है वह भी वहां कहा है—"**स हि सर्ववित् सर्वकर्ता**" (सांख्य० ३। ५६)। (कण्टकमोक्षवत्) जैसे कण्टक=दण्डशूल से कोई मनुष्य छोड़ दिया जाता है और कोई नहीं, राजप्रेरणा उस में नियम है॥ ७॥

और भी—

अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत्॥ ८॥

(अन्ययोगे—अपि) चेतन पुरुष से अन्य अर्थात् प्रधान=प्रकृति। पूर्वोक्त प्रधानकर्तृत्व=प्रकृति के कर्तृत्व योग में भी (तत्सिद्धिः) पुरुष की कर्तृत्वसिद्धि है, (आञ्जस्येन न) प्रकृति का कर्तृत्व स्वतः नहीं होता, पुरुष के बिना नहीं होता (अयोदाहवत्) जैसे लोहे का दाह नम्रीभाव स्वतः नहीं होता किन्तु दाहवान् प्रकाशस्वरूप अग्नि के संसर्ग से होता है। वैसे ही यहां भी पुरुषविशेष ईश्वर के संसर्ग से विरक्त के मोक्षार्थ और अविरक्त के भोगार्थ प्रकृति का कर्तृत्व है, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है—"**.....कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात् प्रधानस्य**" (सांख्य० १। १६४, २। १)॥ ८॥

जिस के सम्बन्ध में पुरुषविशेष ईश्वर का और प्रकृति का कर्तृत्व कहा है वह सृष्टि कैसी है, यह कहते हैं—

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः॥ ९॥

(रागविरागयोः—योगः) राग का प्रतिपक्षी=विरोधी विराग है, अतः वह यहां द्वेष है। राग-द्वेष का योग=राग-द्वेष की प्रवृत्ति=राग-द्वेष का व्यवहार है। एक में राग है तो दूसरे से द्वेष है। एक से द्वेष है तो दूसरे में राग है। इस प्रकार राग-द्वेष की भूमि (सृष्टिः) सृष्टि है॥ ९॥

और वह सर्वप्रथम सृष्टि—

महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम्॥ १०॥

(महदादिक्रमेण) प्रकृति से महत्तत्त्व, पुनः अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राएं तथा इन्द्रियां। इस प्रकार क्रम से पुनः (पञ्चभूतानाम्)

तन्मात्रों से पञ्चभूतों=पञ्च स्थूलभूतों की सृष्टि होती है॥ १०॥

और उस में—

आत्मार्थत्वात् सृष्टेः, नैषामात्मार्थ आरम्भः॥ ११॥

(आत्मार्थत्वात् सृष्टेः) महदादिक्रम की अनुवृत्ति है। पञ्चभूतों से पूर्व महदादिक्रम वाली जो सृष्टि इन्द्रियपर्यन्त है, उसके आत्मार्थत्व=आत्मा के करण, उपकरण, सम्पादन के निमित्त होने से, बुद्धि, अहङ्कार, मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय साधन रूप में है। आगे आचार्य कहेगा—"**पुरुषार्थ करणोद्भवः....**" (सांख्य० २। ३६) तथा "**पुरुषार्थं संसृतिलिङ्गानाम्**" (सांख्य० ३। १६) अतः (एषाम्) पूर्वसूत्र में कहे पृथिवी आदि इन पञ्चस्थूल भूतों का (आरम्भः) उत्पाद=उत्पन्न होना (आत्मार्थः—न) आत्मा के करणोपकरण के निमित्त नहीं। करणोपकरण भौतिक नहीं हैं, यह आगे कहा जाने वाला है। किन्तु स्थूल पञ्चभूतों की सृष्टि भौतिकवस्तु के निमार्णार्थ है। इस प्रकार सृष्टि के दो भाग हुए—एक भाग इन्द्रियरूप, दूसरा भौतिक। ऐसा ही योगदर्शन में कहा है—"**.....भूतेन्द्रियात्मकं दृश्यम्**" (योग० २। १८)।

इस सूत्र का अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में अयुक्त अर्थ किया है। वहां "महदादि सृष्टि पुरुष के मोक्षार्थ है स्वमोक्षार्थ नहीं, प्रकृति की सृष्टि स्वमोक्षार्थ है। महदादि तो प्रकृति में लीन हो जाते हैं उनके अनित्य होने से वहां प्रयोजन नहीं घटता।" यह उनका आशय है। 'प्रकृति की ही सृष्टि स्वमोक्षार्थ है महदादि की नहीं', जो कहा है, क्या महदादि की सृष्टि प्रकृति की सृष्टि नहीं? क्या महदादि से भिन्न भी प्रकृति की सृष्टि है जिसके लिये कहा जावे कि प्रकृति की सृष्टि स्वमोक्षार्थ है? सारी ही सृष्टि प्रकृति की सृष्टि है। इस प्रकार अयुक्त कथन से क्या? यह सांख्यसिद्धान्त के विरुद्ध है॥ ११॥

दिक्कालावाकाशादिभ्यः॥ १२॥

(दिक्कालौ) जो दिशा और काल व्यवहार में लाए जाते हैं वे (आकाशादिभ्यः) आकाशादि से निश्चित करने=जानने चाहिएं। क्योंकि वे दोनों दिशा और काल अपेक्षा से ही व्यवहार में लाए जाते हैं। पृथिवी को अपेक्षित कर आकाशविशेष दिशा कहलाता है तथा वायु आदियों के स्वरूप की प्राप्ति और क्षयरूप व्यवहार की अवधि काल है। अतः यहां पृथक् सूत्र में नहीं दिए किन्तु आकाश आदि के अन्तर्भूत हैं॥ १२॥

और जो सृष्टि महदादि क्रम से आत्मा के लिये पुरुष के उपकरणार्थ दशवें और ग्यारहवें सूत्रों में सूचित की है, उसका विवरण किया जाता है—

अध्यवसायो बुद्धिः ॥ १३ ॥

(अध्यवसायः—बुद्धिः) पुरुषशरीर में निश्चय जिससे होता है वह उपकरण 'बुद्धि' कहाता है। वह समष्टि महत्तत्त्व है, अध्यवसाय तो प्रधानतया सत्त्वस्वरूपवाला होने से॥ १३॥

तत्कार्यं धर्मादिः ॥ १४ ॥

(तत्कार्यं धर्मादिः) बुद्धि का कार्य धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य की प्रवृत्ति है। जो सत्त्वगुण के प्राधान्य से होती है॥ १४॥

महदुपरागाद् विपरीतम् ॥ १५ ॥

(महत्) शरीर में महत्तत्त्व=बुद्धि (उपरागात्) रजोगुण-तमोगुण से वर्तमान हुआ (विपरीतम्) विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य को प्रकट करता है॥ १५॥

और अहङ्कार—

अभिमानोऽहङ्कारः ॥ १६ ॥

(अभिमानः) पुरुष शरीर में अभिमान जिससे होता है, वह अहङ्कार है॥ १६॥

एकादश-पञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥ १७ ॥

(एकादश) ग्यारह अर्थात् मनसहित ज्ञान-कर्मेन्द्रियां (पञ्चतन्मात्रम्) पांच तन्मात्राएं (तत्कार्यम्) अहङ्कार के कार्य हैं॥ १७॥

सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ॥ १८ ॥

(वैकृतात्—अहङ्कारात्) संशुद्ध सत्त्वभूमिवाले अहङ्कार से (सात्त्वि-कम्-एकादशं प्रवर्तते) इन्द्रियों में ग्यारहवीं संख्यावाला मन सात्त्विक सत्त्वगुणभूमिवाला अभिव्यक्त होता है। जैसा आगे कहा है—**"गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत्"** (सांख्य० २। २७)। एवं राजस अहङ्कार से राजस, तामस अहङ्कार से तामस भी होता है, यह योजना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार मन का प्रवर्तन त्रिगुणत्व से होता है॥ १८॥

वह एकादशक क्या है? इसे कहते हैं—

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्॥ १९॥

(कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैः) पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ इन दशों इन्द्रियों के साथ प्रवृत्त रहने वाला (आन्तरम्) जो आन्तरिक इन्द्रिय मन है (एकादशकम्) वह ग्यारह संख्या वाला है। जैसे मनु ने भी कहा है—''**एकादशं मनो ज्ञेयम्**'' (मनु० २। ९२)

यह इन्द्रियाँ—

आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि॥ २०॥

(भौतिकानि न) भूतोपादानवाली=इन्द्रियां भूतों से उत्पन्न होनेवाली नहीं हैं (आहङ्कारिकत्वश्रुतेः) उनके आहङ्कारिकत्व=अहङ्कार से उत्पन्न होने की श्रुति होने से—''**एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च**'' (मुण्डक २। १)॥ २०॥

इन्द्रियां भौतिक नहीं हैं, ऐसा कहते हो, पुनः ''**पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रमसं दिशः श्रोत्रम्**'' (बृह० ३। २। १३)=मृत पुरुष की वाणी अग्नि को, प्राण वायु को, आंख सूर्य को, मन चन्द्रमा को, कान दिशा को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार यह लय भूतों में कैसे कहा गया है? इस सम्बन्ध में उत्तर दिया जाता है—

देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य॥ २१॥

(देवतालयश्रुतिः) अग्नि आदि देवताओं में इन्द्रियों के लय विषयक जो श्रुति है (आरम्भकस्य न) वह इन्द्रियों के उत्पादक विषय की श्रुति नहीं है। उत्पादकत्व यहां लक्ष्य नहीं। यहां चन्द्र, दिशा नाम से देवतात्व इनका लयस्थान होने से सिद्ध है, क्योंकि चन्द्रमा और दिशा पञ्चभूतों में नहीं हैं॥ २१॥

यदि इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं, भूतों से उत्पन्न नहीं हुईं? तो ये नित्य मानी जानी चाहिएं, अनित्य क्यों? इस आकांक्षा पर उत्तर दिया जाता है—

तदुत्पत्तिश्रुतेःर्विनाशदर्शनाच्च*॥ २२॥

(तदुत्पत्तिश्रुतेः) उन इन्द्रियों की उत्पत्तिविषयक श्रुति होने से ''**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**'' (मुण्ड० २। १) (च) और (विनाशदर्शनात्) उन इन्द्रियों का विनाश भी दीखता है, इसलिये इन्द्रियाँ अनित्य हैं॥ २२॥

---

* 'तदुत्पत्तिश्रुतेः' विज्ञानभिक्षु पाठ है, 'तदुत्पत्तिः श्रूयते' अनिरुद्ध पाठ है।

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥ २३ ॥

(इन्द्रियम्) इन्द्रिय=नेत्र आदि इन्द्रिय (अतीन्द्रियम्) उससे भिन्न किसी भी इन्द्रिय से उपलब्ध नहीं होती (अधिष्ठाने) गोलक में=गोलकरूप से इन्द्रिय मानना (भ्रान्तानाम्) भ्रान्तजनों=अज्ञों का मन्तव्य है, वस्तुतः नहीं॥ २३ ॥

यदि गोलक इन्द्रियाँ नहीं हैं, उससे भिन्न अतीन्द्रिय हैं, तब तो एक ही इन्द्रिय हो सके, भिन्न-भिन्न बाह्याकार के अभाव से। इस विषय में उत्तर दिया जाता है—

शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकम् ॥ २४ ॥

(अपि) अपि तु (शक्तिभेदे) इन्द्रियशक्तियों के भेद होने पर अर्थात् गन्धग्रहणशक्ति, रसग्रहणशक्ति, रूपग्रहणशक्ति, स्पर्शग्रहणशक्ति, शब्दग्रहणशक्ति, भिन्न-भिन्न होने पर (भेदसिद्धौ) इन्द्रियों के भेद की सिद्धि होती है तब (एकं न) इन्द्रिय एक नहीं है॥ २४॥

और फिर—

न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥ २५ ॥

(प्रमाणदृष्टस्य) अपने-अपने विषय ग्रहणरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से दृष्ट=अनुभूत भेद का (कल्पनाविरोधः न) कल्पनामात्र से किया विरोध ठीक नहीं। अतः इन्द्रिय एक नहीं, किन्तु यथोक्त ग्यारह इन्द्रियां हैं॥ २५ ॥

उन में—

उभयात्मकं च मनः ॥ २६ ॥

(उभयात्मकं च मनः) मन तो दोनों कर्मेन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रियों में अनुगत= दोनों इन्द्रियवर्गों में वृत्तिवाला होता हुआ, स्वगुण से दोनों की प्रवृत्ति का निमित्त है, जैसे कहा है—"**एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्**" (मनु० २।८२)॥ २६ ॥

मन के स्वगुण से वर्तमानत्व का विवरण दिया जाता है—

गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ॥ २७ ॥

(गुणपरिणामभेदात्) सत्त्व, रज, तम, इन गुणों के परिणामभेद से (नानात्वम्) मन का नानापन है, जैसे—सात्त्विक मन, राजसिक मन, तामसिक मन। पूर्व कहा गया भी है—"**सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्**" (सांख्य० २।१८) और वह मन का नानापन (अवस्थावत्) जैसे देह की बाल्य, यौवन, वार्धक्य, तीन अवस्थाएं होती

हैं।

विज्ञानभिक्षुभाष्य में इस सूत्र का अर्थ अन्यथा किया है। मनोविषयक अठारहवें सूत्र के विरुद्ध भी, क्योंकि वहां स्वयं उसने भी मन में तीन गुणों का होना स्वीकार किया है। यहां भी उन ही गुणों के परिणाम से तीन अवस्थाएं निश्चय करनी चाहिएं। मन की सृष्टि के प्रकरण से उसका कथन है॥ २७॥

मन के धर्मों का वर्णन कर चुकने के पश्चात् इन्द्रियों के धर्म प्रदर्शित किए जाते हैं—

रूपादिरसमलान्त उभयोः॥ २८॥

(उभयोः) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों गणों के (रूपादिर-समलान्तः) रूप आदि से लेकर रसमल-पर्यन्त गुण हैं। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-गुण नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों के और भाषण, ग्रहण, गमन, आनन्द, मल, वाणी आदि कर्मेन्द्रियों के गुण हैं। रसमल यहां भोजनरस का मल है॥ २८॥

जिसकी इन्द्रियाँ हैं, उसके आत्मा के प्रति इन्द्रियों का और इन्द्रियों के प्रति आत्मा का रूप आदि ग्रहण करने में परस्पर सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाता है—

द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम्॥ २९॥

(आत्मनः) रूप आदि विषय ग्रहण होने में इन्द्रियों के प्रति आत्मा का (द्रष्टृत्वादिः) 'द्रष्टापन' आदि सम्बन्ध है (इन्द्रियाणां करणत्वम्) आत्मा के प्रति इन्द्रियों का करणभाव होना 'साधन' रूप सम्बन्ध है। रूप ग्रहण में द्रष्टा आत्मा, दर्शन-करण आँख। रसग्रहण में रसयिता आत्मा, रस-करण जिह्वा। गन्धग्रहण में घ्राता=सूँघनेवाला आत्मा, घ्राण-करण=सूँघने का करण नासिका। स्पर्शग्रहण में स्प्रष्टा=स्पर्श करनेवाला आत्मा। स्पर्श-करण त्वचा। शब्दग्रहण में श्रोता आत्मा, शब्दश्रवण-करण कान। भाषण में वक्ता आत्मा, भाषण-करण वाक्। आदानग्रहण में आदाता=ग्रहण करनेवाला आत्मा, आदान-करण=ग्रहण-करण हाथ। गमन में गन्ता=चलनेवाला आत्मा, गमन-करण पैर, इत्यादि जानना चाहिए।

करण प्रकरण में और भी—

त्रयाणां स्वालक्षण्यम्॥ ३०॥

(त्रयाणाम्) करणत्व की अनुवृत्ति है। पूर्वोक्त तीनों बुद्धि, अहङ्कार,

मन का करणत्व=करणभाव (स्वालक्षण्यम्) स्वलक्षणगत=स्वस्वलक्षण से सिद्ध जानना चाहिए। यहां निर्वृत्त=सिद्ध अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय तद्धित है। अथवा स्वस्वलक्षणवाला करणत्व है। यहां स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय है। उन बुद्धि, अहङ्कार, मन का स्व-स्व लक्षण अध्यवसाय=निर्णय, अहङ्कृति=अहम्भावना और सङ्कल्प, ये करणत्व विशेष के कारण पृथक्-पृथक् है।

अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में इस सूत्र की अन्यथा व्याख्या की है। वहां वैधर्म्यप्रदर्शनपरक सूत्र की योजना की है, किन्तु वैधर्म्य का प्रकरण यहां नहीं है। यहां तो करणत्व का प्रकरण है। वैसा ही अर्थ होना चाहिए॥ ३०॥

और भी—

सामान्या करणवृत्तिः प्राणाख्याः
वायवः पञ्च॥ ३१॥[१]

(सामान्या करणवृत्तिः) करणों की अर्थात् उपर्युक्त दोनों सूत्रों में कहे ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार, मन रूप तेरह करणों[२] की वृत्ति सामान्या=करणत्व व्यापार के निमित्त सामान्य है (प्राणाख्याः पञ्च वायवः) प्राणनामक अर्थात् प्राण अपान, व्यान, समान, उदान, पांच वायुएं शरीर में वर्तमान हैं। उन वायुभूत पांच प्राणों से उन सब ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, बुद्धि, अहङ्कार, मन रूप तेरह करणों की वृत्ति-प्रवृत्ति होती है। प्रश्नोपनिषद् के प्राण-इन्द्रिय-मन के 'अहं श्रेयसि'=मैं बड़ा हूँ, विवाद-प्रकरण में करणों की प्राण के आधार पर निर्भरता कही है—"**या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या चक्षुषि। या च मनसि[३] सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः**" (प्रश्नो० २। १२)=हे प्राण! जो तेरी तनुकाय वाग् इन्द्रिय में प्रतिष्ठित है, जो श्रोत्र में, जो नेत्र में, जो मन में प्रसार पाए हुए है, उसे शान्त कर, कल्याणरूप बना, देह से उत्क्रमण न कर। इन्द्रिय और मन से पूर्व प्राण की उत्पत्ति दिखलाई है—"**एतस्माज्जायते प्राणः मनः**[४]

१. सामान्या के स्थान पर 'सामान्यकर' तथा 'प्राणाख्याः' के स्थान पर 'प्राणाद्याः' पाठभेद भी प्राप्त है।
२. "करणं त्रयोदशविधम्....." (सांख्य० २। ३८) सूत्र के विधान से करणवृत्ति प्रसङ्ग यहां तेरह करणों का है।
३. 'मनसि' पाठ अन्तःकरण मात्र के लिये है।
४. 'मनः' पाठ अन्तःकरण मात्र के लिये है।

सर्वेन्द्रियाणि च'' (मुण्डक २। १। ३)

अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु भाष्य में प्राणों के करणत्वप्रदर्शन प्रकरण से विरुद्ध व्याख्यान किया है॥ ३१॥

उन कारणों में—

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः॥ ३२॥

(इन्द्रियवृत्तिः) ग्यारह इन्द्रियों की वृत्ति (क्रमशः—अक्रमशः—च) क्रमशः एक-एक विषय में एक-एक इन्द्रिय की तथा अक्रमशः एक साथ अनेक विषयों में अनेक इन्द्रियों की वृत्ति यथावसर शीघ्रता तथा भय से या अभ्यास से कार्य करती है॥ ३२॥

वृत्तिभेद कहे जाते हैं—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च*॥ ३३॥

(वृत्तयः पञ्चतय्यः) वे वृत्तियां पांच स्तरवाली=पांच प्रकार की हैं। तथा (क्लिष्टाः—अक्लिष्टाः—च) क्लिष्ट-अक्लिष्ट भी हैं। वृत्तियों के पांच प्रकार 'योगदर्शन' नामक समान शास्त्र से जानने चाहिएं—''**प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः**'' (योग० १। ६)=अविद्या आदि क्लेशमूलक तथा संसाराभिमुख वृत्तियां क्लिष्ट=दुःखद और उनसे भिन्न विवेकाभिमुख वृत्तियां अक्लिष्ट हैं॥ ३३॥

पुनः—

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः॥ ३४॥

(तन्निवृत्तौ) वृत्तियों की निवृत्ति हो जाने पर (उपशान्तोपरागः) उपशान्त हो गया है उपराग=विषय प्रभाव जिसका ऐसा पुरुष=आत्मा (स्वस्थः) अपने में स्थित अर्थात् स्वरूपतः शुद्ध हो जाता है॥ ३४॥

और वह—

कुसुमवच्च मणिः॥ ३५॥

(कुसुमवत्—च मणिः) कुसुमवत्, चकार से अकुसुमवत् भी। यहां वत् प्रत्यय से सप्तमी विभक्ति में उपमा है। जैसे कुसुम में=जपाकुसुम में=जपापुष्प के आश्रय में या फूलमात्र के आश्रय में मणि उसके रंग से रंगवाली भासित होती है और फूल के हटा लेने से स्फटिक मणि स्वरूपतः शुद्ध रहती है, वैसे ही पुरुष=आत्मा भी, वृत्ति के उपराग से

---

* 'क्लिष्टा अक्लिष्टाः' पाठ अनिरुद्ध का है।

रक्त=वृत्तिसक्त होता है और वृत्तिनिवृत्ति पर शुद्ध स्वस्थ हो जाता है॥ ३५॥

करणों का वृत्तिसम्बन्ध पुरुष के साथ कैसे प्रवृत्त हुआ, इस विषय में कहते हैं—

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात्॥ ३६॥

(करणोद्भवः) करणों=अन्तःकरण-बहिष्करण का प्रकटीभाव (पुरुषार्थम्) पुरुष आत्मा के निमित्त=आत्मा के प्रयोजनार्थ है (अपि—अदृष्टोल्लासात्) अदृष्ट के भोगोन्मुख होने से सम्भव है॥ ३६॥

जैसे—

धेनुवद् वत्साय॥ ३७॥

(वत्साय धेनुवत्) बछड़े के लिये जैसे गौ दूध स्राव करने को प्रवृत्त होती है, वैसे ही करणों भी प्रवृत्ति होती है पुरुष के लिये, अदृष्ट भोग प्रदान करने को॥ ३७॥

और वह—

करणं त्रयोदशविधमवरान्तरभेदात्॥ ३८॥

(करणं त्रयोदशविधम्) करण तेरह प्रकार के हैं (अवरान्तरभेदात्) बाह्य आभ्यन्तर भेद से। उन में बुद्धि, अहङ्कार, मन आभ्यन्तर करण हैं। अतएव ये अन्तःकरण हैं। नेत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाग् आदि पांच कर्मेन्द्रिय ये दश बहिष्करण हैं। इस प्रकार सारे करण तेरह हैं जो पुरुषार्थ हैं। अवान्तर पाठ होने पर (अवान्तरभेदात्) मन के अवान्तर=अन्तःकरण के रूपान्तर भेद से बुद्धि, अहङ्कार, मन अथवा यहां अवान्तर शब्द नानार्थक है, करणों के नाना भेद से तेरह करण हैं॥ ३८॥

परन्तु—

इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत्॥ ३९॥

(इन्द्रियेषु) इन्द्रियों में (साधकतमत्वयोगात्) साधकतमत्व के संसर्ग से=विषयों का अतिशय साधन करने के कारण, करणत्व है, वे इन्द्रियां करण हैं (कुठारवत्) जैसे काष्ठ चीरने-काटने-फाड़ने के निमित्त प्रहार करते हुए, हाथ के संसर्ग से प्रहार करता हुआ कुठार=कुल्हाड़ा करणत्व को प्राप्त होता है=करण कहलाता है॥ ३९॥

और फिर—

द्वयोः प्रधानं मनः, लोकवद् भृत्यवर्गेषु ॥ ४० ॥

(द्वयोः) बाहिर-भीतर की दोनों प्रकार की इन्द्रियों में (प्रधानं मनः) प्रधान करण ग्यारहवां उभयवृत्तिवाला मन है (लोकवत्-भृत्यवर्गेषु) जैसे लोक में भृत्यवर्गों में स्वामी प्रधान होता है ऐसे ही मन-स्वामी के दो भृत्यवर्ग ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां हैं ॥ ४० ॥

कैसे मन की प्रधानता है, यह कहते हैं—

अव्यभिचारात् ॥ ४१ ॥

(अव्यभिचारात्) मन के अव्यभिचार से, उसके उभयात्मक होने से, समस्त इन्द्रियवृत्ति में निमित्तभूत व्यापारवाला होने से, बिना उसके उनका व्यापार न हो सकने से, कोई भी इन्द्रिय मन का उल्लंघन नहीं कर सकती, मन को त्याग नहीं सकती। इसलिये मन प्रधान है ॥ ४१ ॥

अन्य हेतु—

तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ॥ ४२ ॥

(तथा—अशेषसंस्काराधारत्वात्) तथा मन समस्त संस्कारों का आधार होने से, मन ही समस्त संस्कारों का आधार है। किसी भी इन्द्रिय से जो भी कर्म किया जाता है, उसके सम्बन्ध में सब संस्कार मन में ही स्थान बनाते हैं, अतः मन प्रधान करण है ॥ ४२ ॥

मन संस्कारों का आधार कैसे है, यह कहते हैं—

स्मृत्याऽनुमानाच्च ॥ ४३ ॥

(स्मृत्या) स्मृति से। स्मृति होती है और स्मृति बिना संस्कार के सम्भव नहीं, कहा भी है—"**आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः**" (वैशेषिक० ९। २। ६)=संस्कार से स्मृति होती है। संस्कार पूर्वदृष्ट विषय का अवस्थित होता है। तथा (अनुमानात्—च) उस इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी उस संस्कार से पूर्वदृष्ट विषय की स्मृति होती है, इससे संस्काराधार मन का अनुमान होता है। संस्कार का आधार रूप मन बाह्य इन्द्रियों से भिन्न और प्रधान है ॥ ४३ ॥

और स्मृति—

सम्भवेन्न स्वतः ॥ ४४ ॥

(स्वतः—न सम्भवेत्) स्मृति अपने आप सम्भव नहीं, बिना संस्कार के; संस्कार मन के बिना स्थिर नहीं हो सकता। बाह्य इन्द्रियों का कार्य तो विषय का प्रत्यक्ष करना ही है, अतः उन से भिन्न भीतरी करण

'मन' प्रधान है, यह निष्कर्ष है ॥ ४४ ॥

और—

आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ॥ ४५ ॥

(गुणप्रधानभावः) यह गौण भाव और प्रधान भाव (आपेक्षिकः) अपेक्षाकृत है। करणत्व तो सब में समान है किन्तु (क्रियाविशेषात्) उस-उस व्यापार विशेष से=विशिष्ट व्यापार से तुलना करके ही गौण या प्रधान भाव होता है ॥ ४५ ॥

तत्कर्मार्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥ ४६ ॥

(तत्कर्मार्जितत्वात्) पुरुषकर्मों के द्वारा अर्जित होने से, करण के पुरुष कर्मानुसार बनने से (तदर्थमभिचे ा लोकवत्) पुरुष का अर्थसाधन करने के लिये ही करण की चेष्टा, क्रिया या प्रवृत्ति है (लोकवत्) जैसे लोक में जिस मनुष्य ने धन देकर घर, गाड़ी आदि ली, उस पुरुष के अर्थसाधन के लिये वह हुआ करती है ॥ ४६ ॥

और फिर—

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवत् लोकवत् ॥ ४७ ॥

(समानकर्मयोगे) पुरुष के अर्थसाधन=प्रयोजनसाधन के लिये सब करणों का प्रयोजनसाधनरूप कर्म समान होने पर भी (बुद्धेः प्राधान्यम्) मन आदि करणों की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य है, उसके महत्त्व से=ऊंचे होने से (लोकवत्) जैसे लोक में जो अन्तरङ्गतम होता है उसका ही प्राधान्य होता है। राजा के प्रयोजनार्थ राजा के सभासदों में राजा के विशेष पुरुष मुख्य होते हैं। उनमें भी राजमन्त्री सर्वप्रधानता को प्राप्त करता है। वैसे ही यहां भी, बाह्य इन्द्रियों के मध्य में मन का प्राधान्य और उसकी अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य है। लोकवत् यह द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति सूचिका है ॥ ४७ ॥

सांख्यदर्शन में स्वामी ब्रह्ममुनिकृत
आर्यभाषाभाष्य सहित द्वितीय अध्याय समाप्त।

❑❑